ओ३म्

शिव शंकर का प्रसाद

अर्थात्

वेदों की आवश्यकता

लेखक

स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती

-: प्रकाशक :-

आर्य समाज, बी.एच.ई.एल. सै.-1, हरिद्वार

आर्य समाज, चौक बाजार, ज्वालापुर, हरिद्वार

Q. Is God Saguna or Nirguna one?

Ans. He is Both.

Q. How can one thing be both ....

Ans. A thing that is possessed of Certain Qualities is Called Saguna. whilst one devoid of certain qualities is called Nirguna ...... All things therefore as Saguna and Nirgun by virtue of being possessed or devoid of certain qualities. There is not a single substance that is only Saguna or only Nirguna. Both always reside in Same object. In the same way God is Saguna being possessed of certain natural attributes such as omniscience, omnipresence etc. He also Nirguna being free from the attributes of visibility, properties of material objects, feeling of pleasure and unborn etc.

Q.2 People generally speak of a things as Nirguna (Formless) Saguna (possessed a form)?

Ans. No. It is a false conception entertained by ignorant minds ......

ओ३म्

शिव शंकर का प्रसाद अर्थात्

वेदों की आवश्यकता

मनुष्य जब संसार के पदार्थों को सूक्ष्मदृष्टि से विचार करके देखता है जब उसको निश्चय हो जाता है कि संसार में जितने रोग है उन सबकी औषधि है और जितनी औषधि हैं वह किसी न किसी रोग के लिए उपयोगी हैं। परन्तु तब तक मनुष्य यह न जानले कि अमुक रोग है, तब तक़ वह उसकी निवृत्ति के उपायों को नहीं विचारता। यद्यपि वह औषधि उनके पास ही है तो भी आवश्यकता के अनुभव न होने से वह उनको ग्रहण नहीं करता। इससे विचारशील का काम है कि पहले रोग अर्थात् वस्तु की आवश्यकता, पश्चात् वस्तु के गुण, तदन्तर उससे रोग की निवृत्ति अच्छे प्रकार से समझकर वस्तु के देने की चेष्टा करें, नहीं तो उस वस्तु को देने मात्र से अभीष्ट फल की सिद्धि न होगी। नीचे हम सर्व प्रथम मनुष्य की आवश्यकता को प्रकट करेंगे।

मनुष्य की आवश्यकता

हम संसार में देखते है कि 'अन्न' संसार के जीवों का प्राण (जीवन) स्वरूप है। प्राचीन विद्वानों ने भी उसकों मनुष्यों का प्राण माना है। **'अन्न वै प्राणिनां प्राणः'** इस स्मृति वाक्य से तो सर्वथा स्पष्ट ही है कि अन्न मनुष्यों का प्राण है, परन्तु जब कोई मनुष्य कच्चा अन्न अधिक खा जाता है तो बहुधा अपच रोग हो जाता है। तो अन्न भी जो जीवन का आधार है अधिक परिमाण में खा लेने से विशूचिका (उल्टी व दस्त) आदि रोगों से प्राणों का नाशक

प्रतीत होने लगता है। उस समय उपरोक्त सिद्धांत असत्य लगता है। इसी प्रकार जब सुनते है **'आज्य वै बल वै प्राणः'** अर्थात् घृत (घी) ही जीवों को बलदायक है, घृत ही जीवों की आयु है, घृत ही जीवों का प्राण है, तो घृत का सेवन आवश्यक प्रतीत होने लगता है। परन्तु जब कोई ज्वर पीड़ित मनुष्य घृत का सेवन करता है उस समय घृत उसे बलवान् नहीं बनाता, किन्तु विषम ज्वर अर्थात् तपैदिक करके बल का नाशक, आयु का नाशक और प्राणों का नाशक हो जाता है अर्थात् घृत खाकर पानी पी लो तो कास रोग अर्थात् खांसी उत्पन्न हो जाती है। इसको देखकर घृत खाने में अश्रद्धा हो जाती है। अब दूसरी ओर लीजिए विष अर्थात् शंखिया, जो मनुष्य को प्राण नाशक प्रतीत होता है, जिसको प्राणनाशक समझकर सरकार ने भी उसको बेचना बन्द कर दिया है, पर जब वहीं शंखिया वैद्यकशास्त्र की रीति से शुद्ध करके खाया जाता है तो बड़े-बड़े प्राणघातक रोगों का नाश करके जीवों को अमृत के तुल्य गुणकारी प्रतीत होने लगता है।

पाठक गण! उक्त सिद्धान्तों से स्पष्ट है कि इस संसार में कोई भी पदार्थ स्वयं जीव के लिए न तो उपकारक है और न हानिकारक। किन्तु पदार्थों का तत्वज्ञान अर्थात् ज्ञान से उसके गुण-स्वभाव क्रिया को जानकर उसका उपयोग करना ही लाभकारक है और इससे विरुद्ध मिथ्या ज्ञान के होने से उसका ग्रहण ही हानिकारक है।

प्रिय पाठको! जब हमें किसी अन्धकारमय स्थान में जाने का अवसर मिलता है तो लाभदायक वस्तु के न होने पर भी चित्त का भय दूर नहीं होता। दूसरी ओर जब प्रकाश में शेर, सर्प आदि

जैसे भयानक जीवों को देखते हैं तो प्रकाश के कारण उनका अवस्था का ज्ञान हमें होता है। अतः हमारा भय बहुत ही न्यून हो जाता है। इससे भी सिद्ध है कि **मनुष्य के लिए अज्ञान ही भयानक है अज्ञान के नाश से मनुष्य का भय ही नाश हो जाता है।** बहुधा हम देखते है कि एक मनुष्य बलिष्ठ पशुओं की मण्डली को एक सोटा हाथ में लिये अपने आधीन करके जिधर चाहता है उधर ले जाता है, परन्तु वह दो मनुष्यों को उस सोटे से अपने आधीन नहीं कर सकता। यह सब बाते प्रत्यक्ष बतला रही हैं कि **ज्ञान का न होना बड़ी हानि का कारण है। मनुष्यों को इसी ने परतन्त्र कर रखा है, यह मनुष्यों के दुःखों का आधार है।***

ज्ञान प्राप्ति का लाभ

पाठकगण! आप यह भी जानते हैं कि जीव अल्पज्ञ है और प्रकृति का तत्वज्ञान जीव को पूर्णतया होना असम्भव है और अज्ञान की अवस्था में जीव कभी सुखी नहीं हो सकेगा। प्राचीन शास्त्रों ने भी इस बात का प्रतिपादन किया है कि मनुष्य मिथ्याज्ञान से मूर्ख होता है। जैसा महात्मा महामुनि कपिल जी ने अपने साँख्य शास्त्र में दिखलाया है-

बन्धो विपर्ययात्। साँख्य दर्शन 3/24

अर्थ--विपर्य अर्थात् विपरीत ज्ञान ही बन्ध का हेतु अर्थात् कारण है। क्योंकि प्रकृति के तत्वं को पूर्णतया न जानने से जब जीव को प्रकृति पदार्थों में यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि यह पदार्थ प्रतिकूल अर्थात् दुःखकारक है, तो जिन पदार्थों को आत्मा के

* मनुष्य की आवश्यकता 'सुख' है। जो ज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है। अतः ज्ञान ही सबसे बड़ा सुख है, जिसकी सबसे बड़ी आवश्यकता मनुष्य को है।

अनुकूल समझता है उनको ग्रहण करने की इच्छा उत्पन्न होती है। उस पदार्थ के प्राप्त करने में मनुष्य यत्न करता है। और यत्न से उत्पन्न हुआ कर्म, धर्म-अधर्म रूप फल को जन्म देता है। उसी कर्म-फल को भोगने के लिए जीवात्मा जन्म-मरण अर्थात् शरीर के संयोग-वियोग को प्राप्त होता रहता है। जिस प्रकार रस्सी के सर्प होने की भ्रांति से जो भय उत्पन्न होता है उसकी निवृत्ति का उपाय प्रकाश में रस्सी को रस्सी जाने बिना दूसरा नहीं, उसी प्रकार इस महारोग की औषधि तत्व ज्ञान के बिना दूसरी नहीं। इस तथ्य को महर्षि पतञ्जलि ने भी अपने योग शास्त्र में लिखा हैं:-

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः योग दर्शन 2/3

अविद्या (जिसके कारण कोई वस्तु अपने रूप से अन्य वस्तु लगे जैसे रस्सी सर्प या सर्प रस्सी) अथवा मिथ्याज्ञान ही मनुष्य का वास्तविक रोग है, जिसके नाश से मनुष्य सुख-शान्ति का लाभ कर सकता है। इस रोग की औषधि सिवाय आत्मा-अनात्मा विवेचन के दूसरी नहीं। क्योंकि जब तक जीव अपने गुणों और प्राकृतिक स्वरूप एवं स्वभाव को न जान ले तथा अपने अभीष्ट आनन्द (सुख) के अधिकरण अर्थात् आश्रय को न समझ ले तब तक जीव के दुःख की निवृति होना असम्भव है।*

प्रिय पाठको! हमारे महात्मा योगीश्वरों ने भी इसकी पुष्टि की है:-

ज्ञानान्मुक्तिः! साँख्य दर्शन 3/23

अर्थात् मुक्ति (तीनों प्रकार के दुःखों से छूटने की स्थिति) अर्थात् मोक्ष ज्ञान से ही होती है। महामुनि गौतम ने अपने शास्त्र के

* ज्ञान प्राप्ति का लाभ है कि मनुष्य दुखों के कारण व सुखों के कारण और अपने चरम उद्देश्य मोक्ष = सुख = आनन्द को जान जाता है।

आरम्भ में ही इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है:-

प्रामाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवाद जल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रस्थानानां तत्वज्ञानान्नि: श्रेयसाधिगम:। न्याय दर्शन 1/1

अर्थ- **प्रमाण** जिससे वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है, **प्रमेय** जिसका ज्ञान प्रमाण से हो, **संशय** जहाँ सामान्य ज्ञान हो परन्तु प्रमाण के अभाव से निश्चित ज्ञान न हो, **प्रयोजन** जिस अर्थ की इच्छा को धारण करके कार्य में प्रवृत्ति होती है, **दृष्टान्त** जिसमें लौकिक और परीक्षकों की बुद्धि समान हो, **सिद्धान्त** जो प्रतिपक्षी के साथ बात चीत करके अन्तिम व्यवस्था ठहरे इत्यादि और सब सोलह पदार्थो के तत्वज्ञान से नि:श्रेयस अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है। क्योंकि जब प्रमाण आदि के द्वारा जीव को यह निश्चय हो जाता है कि अमुक पदार्थ मेरी आत्मा के अनुकूल तथा अमुक प्रतिकूल है तो सत्य कार्यों में प्रवृत्ति होती है, जिसके भोगने के लिए जन्म की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार जब जीव अपने, प्रकृति के तथा ईश्वर के गुणों का ठीक-ठीक निश्चय कर लेता है तब वह हित-अहित का ठीक साधन कर लेता है।

ज्ञान प्राप्ति की विधि

जिस प्रकार भूगोल (ग्लोब) और नक्शों (चित्रों) के द्वारा हमको हर एक नगर, देश समुद्र, झील आदि का यथार्थ ज्ञान बिना किसी श्रम के घर बैठे सिखला दिया जाता है और यह भी प्रकट कर दिया जाता है कि अमुक नगर में यह वस्तु निर्मित होती है, वहां के लोगों का यह मत है उनकी यह रीति है इत्यादि। इस प्रकार जब मनुष्य यह जान लेता है कि अमुक

देशवासियों का यह धर्म है, ऐसा स्वभाव है, ऐसा धन है, ऐसे कारीगर हैं, उनका ऐसा चालचलन है तो उसको अपने अभीष्ट में सफलता जिस स्थल से प्रतीत होती है वह वहीं जाता है, अनावश्यक व्यर्थ भ्रमण करके अपनी शक्ति एवं समय का नाश नहीं करता। इसी प्रकार **उस परमात्मा की असीम कृपा से प्रकृति का पूरा नक्शा जान लेने पर मनुष्य अपनी आत्मा के अनुकूल व प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़कर सुख दुःख को अनुभव न करके अपने अभीष्ट आनन्द के लिए यत्न करता** है। यह पूर्ण विवेकी मनुष्य ज्ञान द्वारा अभीष्ट को प्राप्त करके जन्म-मरण रूपी महानतम दुःख को प्राप्त नहीं होता।

अतः संसार में अपने-अपने कार्यों के फलस्वरूप ही मनुष्य सुख-दुःख को प्राप्त होता है। परन्तु जब तक कर्मों का विधि-निषेध (कौन सा कार्य करना चाहिए और कौन सा नहीं करना चाहिए?) निश्चय न हो जाय तब तक सत् कर्मों में प्रीति व अनृत (असत्य व पाप) कर्मों से अप्रीति नहीं होती। **इससे भी ज्ञात होता है कि कर्मों के विधि-निषेध का ज्ञान कर्मफल प्रदाता ईश्वर ने जीवों को दिया है, क्योंकि ईश्वर निष्पक्ष और न्यायकारी है।**

सत्य ज्ञान की खोज

प्यारे परीक्षक जनों! यह तो आप ठीक रीति से समझते ही हैं कि जो मनुष्य जिस वस्तु या उपकरण को बनाता है जब तक उस वस्तु को यथार्थ रूप में प्रयोग करने की विधि मुख से या लिखकर न बतला दे तब तक उसका यथार्थ प्रयोग किसी को भी नहीं आता। साथ ही हम यह भी देखते है कि हमारे सामने एक

घड़ी है जब तक उसकी चाबी लगाने का समय एवं विधि, सुइयों के घटाने बढ़ाने के नियम तथा तेज और धीमी करने की क्रिया हमको पता न होवे तब तक उस घड़ी से हम यथार्थ प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकते और न हम इस घड़ी के बिगड़ने से दोषी ठहराये जा सकते हैं।*

हम जगत् में देखते हैं कि जहां हम बिना देखे थोड़ी दूर भी चले, वहीं ठोकर खाई, जो बतलाती है कि ईश्वर ने जो तुम्हें आँखें देकर, देखकर चलने की आज्ञा दी थी, उसको भङ्ग करने का यह फल है। प्यारे पाठको! इसी प्रकार जब ईश्वर द्वारा निर्धारित इन्द्रियों के नियमों को तोड़ कर प्रत्यक्ष में हम दुःख उठाते हैं तो इससे यह अनुमान है कि वर्तमान के दुःख भी हमारे द्वारा पूर्व में जो ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन किया गया है, उसका फल है।

महाशयगण! आप जब यह निश्चय हो गया कि दुःख ईश्वर आज्ञा उल्लंघन का फल है तो यह बात भी छिपी नही रहती कि ईश्वर ने हमें विधि-निषेध विषयक् आज्ञा अवश्य दी है। यह ईश्वर ने अपनी यह आज्ञा हमको वेदों के माध्यम से दी है।

प्यारे पाठको! वेदों को छोड़कर बाकी 4 पुस्तकें तौरेत,

---

* ईश्वर ने दुनिया को बनाया और हमें उसका उपभोग करने को दिया है। यदि उसने इसको प्रयोग करने की विधि हमें नहीं बताई तो, हमारे अनुचित प्रयोग से इसके नष्ट-भ्रष्ट हो ज़ाने पर हमारा कोई दोष नहीं होगा। अतः हम पाप के भागी नहीं। फिा भी हम दुख भोगते हैं तो क्या ईश्वर अन्यायी है? नहीं, ईश्वर अन्यायी नहीं क्योंकि उसने हमें दुनिया को प्रयोग करने की विधि बताई है।

जबूर, बाइबिल और कुरान को भी अधिकांश लोग ईश्वर आज्ञा के नाम से पुकारते हैं। आइये, हम यहां इन पुस्तकों को परीक्षा करने के लिए कोशिश करते हैं।

पहली पुस्तक तौरेत को लीजिए यह मूसा के समय में उतरी। यहां कुछ विचार यह उत्पन्न होंगे कि (१) मूसा से पहले लोगों को विधि-निषेध का ज्ञान किस प्रकार होता था। (२) आदम (मनुष्यों में सर्वप्रथम व्यक्ति का नाम) से लेकर मूसा तक ज्ञान ईश्वर-आज्ञा संसार में थी या नहीं? (३) मूसा से पहले संसार में कौन बात न थी, जिसके लिए ईश्वरीय पुस्तक ही आवश्यकता थी, जिसको तौरेत ने पूरा किया इन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर देना अति कठिन है।

प्यारे पाठको! यदि 'दुर्जनतोषन्याय'* से यह भी मान लें कि तौरेत की अति आवश्यकता थी तो कतिपय अन्य प्रश्न उत्पन्न होते हैं। (१) तौरेत में क्या न्यूनता थी जिसको पूरा करने के लिए जबूर को आवश्यकता हुई? (२) तौरेत के बनाने वाले को उस आवश्यकता का ज्ञान पूर्व था या नहीं? (३) यदि था तो पहले क्यों न लिखा? (४) आदम से लेकर दाऊद (जिसको ईश्वर ने तौरेत नामक पुस्तक दी) तक मनुष्यों का जीवन अधूरेपन में गया और उनको ईश्वर की यथार्थ आज्ञाओं को न पालने से वञ्चित रहकर जो दु:ख उठाना पड़ा, इसका दोष किस पर आवेगा? क्या तौरेत के बनाने वाले पर नहीं?☺

ज्ञान प्राप्ति के लिए ईश्वर की आवश्यकता

* अनुचित बात मानकर न्याय करने की कोशिश करना।

☺इसी प्रकार के प्रश्न बाइबिल व कुरआन शरीफ आदि के सम्बन्ध में भी उत्पन्न होंगे।

प्यारे पाठकों! संसार में दो प्रकार का ज्ञान प्रतीत होता है एक तो सामान्य ज्ञान दूसरा विशेष ज्ञान। सामान्य ज्ञान तो जीव में स्वभाव से ही रहता है। परन्तु विशेष ज्ञान बिना किसी निमित्त के नहीं हो सकता। खाना, सोना, रोना, इत्यादि जो कार्य पशु-पक्षी सर्पादि सब योनियों में रहता है वह स्वाभाविक है, परन्तु हर योनि में जो विशेष ज्ञान है वह किसी निमित्त अर्थात् किसी के द्वारा सिखाने से होते हैं।

मित्रवर्गो! जब हम समस्त जीवों से मनुष्यों की तुलना करते हैं उस समय समस्त जीवों में भोग शक्ति को पाते हैं। जैसे गौ, भैंस, अश्व आदि पशु, हंस आदि पक्षी वा सर्प आदि तिर्यक् जीव, अन्न आदि पदार्थ को भोगते हैं, परन्तु उनको अन्न आदि पदार्थ की वृद्धि तथा उत्पत्ति करने का ज्ञान नहीं प्रतीत होता। इससे ज्ञात होता है कि इन जीवों में भी स्वभाव से वर्तमान अवस्था का ज्ञान तो है, किन्तु विशेष ज्ञान नहीं है। लेकिन जब हम मनुष्यों में कर्त्तव्य-शक्ति अर्थात् कर्मों के करने की सामर्थ्य को विचार दृष्टि से विचारते हैं और यह सामर्थ्य अन्य जीवों में न पाकर हमें विश्वास होता हैं कि यह शक्ति किसी निमित्त से उत्पन्न हुई है। जब हम अशिक्षित पुरुषों को देखते हैं तो वे भी कर्त्तव्य-शक्ति से शून्य ही प्रतीत होते हैं। इससे स्पष्ट विदित होता है कि **कार्य करने की सामर्थ्य मनुष्यों को शिक्षा से प्राप्त हुई है।** अब यह विचार उत्पन्न होता है कि मनुष्यों को शिक्षा किससे प्राप्त हुई? बहुत लोग कहते कि शिक्षा जीवों के परस्पर मेल से उत्पन्न होती है क्योंकि बहुतों की अल्पज्ञता या सामान्य ज्ञान मिलकर बहुज्ञता व विशेष ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। परन्तु कुछ गहराई से विचार करने पर यह विचार

मिथ्या प्रतीत होता है। जैसे दियासलाई (माचिस) में सामान्य अग्नि है और रगड़ने से विशेष अग्नि प्रकट होती है तो रगड़ना निमित्त ही विशेष अग्नि का उत्पादक प्रतीत होता है। क्योंकि माचिस की डिब्बी में सौ तिल्लियों के योग से भी निमित्त कारण के अभाव में विशेष अग्नि प्रकट नहीं होती। जब एक तिल्ली में विशेष अग्नि प्रकट हो जाती है तो वह बहुत सी वस्तुओं को यह शक्ति दे सकती है, **इसी प्रकार जब तक जीव को शिक्षा प्राप्त न होगी तब तक उसमें यह सामर्थ्य न होगी।**

प्रिय पाठको! कुछ लोग यह कहते हैं की जीवात्मा नित्य-प्रति उन्नति करता है, इससे काल पाकर (कुछ समय पश्चात) सर्वज्ञ हो जायेगा। परन्तु उनका यह सिद्धान्त ठीक नहीं क्योंकि जीवात्मा का ज्ञान, कोई वस्तु बिना निमित्त उत्पन्न नहीं करता। वृक्ष आदि अपने उपयोगी वस्तुओं को प्रकृति से ग्रहण करते हैं। उसको मूर्ख पुरुष उनकी उन्नति मानता है। परन्तु देश, काल तथा प्रकृति आदि यह सब ज्ञान से शून्य हैं इसने सर्वज्ञता का मिलना असम्भव है।

सत्य ज्ञान अर्थात् ईश्वर की आज्ञा

प्रिय मित्रो! यह तो आप स्वीकार करते हैं कि जब तक आप किसी नौकर अथवा अपनी सन्तान को किसी कार्य के करने की आज्ञा न दें और कुकर्मों के करने का निषेधयुक्त उपदेश न करें तब तक उसको किसी कर्म को करने या न करने के लिये दोषी नहीं बना सकते, और न उसको दण्ड दे सकते हैं। यदि आप उनको दण्ड दें तो कोई भी आपको न्यायशील या भला नहीं कहेगा। यदि किसी न्यायशील मनुष्य को दण्ड देते देखेंगे, तो आपको निम्न

दो बातें ध्यान आवेंगी। (१) या तो उस अपराधी ने न्यायधीश की आज्ञा का उल्लंघन किया है। (२) या वह न्यायधीश अन्यायी है। पहली अवस्था में न्यायधीश की आज्ञा का प्रचार होना आवश्यक है।

महाशयगण! अब आप विचारें कि संसार में जो करोड़ों जीव नाना प्रकार के दुःख पा रहे हैं इनको देखकर मनुष्य या तो दुःख को पूर्व कर्मों तक फल समझेगा वा दुःख दाता ईश्वर को अन्यायी जानेगा। किन्तु ईश्वर न्यायकारी है। उसको अन्यायी कहना केवल मूर्खों का प्रलाप मात्र है। हां, यह सब मनुष्यों के पापों के फल है। **पाप ईश्वराज्ञा को उल्लंघन करने का नाम है।** इससे भी सिद्ध होता है कि ईश्वर ने अवश्य कोई आज्ञा दी है जिसके अनुसार चलकर मनुष्य इन दुःखों से छूट सकता है और जिसके विरूद्ध चलने से ही इन दुःखों से ग्रस्त हुआ है।

सत्यज्ञान = ईश्वर आज्ञा का लक्षण (पहचान)

प्यारे भाइयो! इस प्रकार स्पष्ट ही ईश्वर निर्मित नियम या आज्ञा अथवा सत्य विद्या के पुस्तक की आवश्यकता प्रतीत होती है और ईश्वर के न्याय आदि गुणों से भी यही बोध होता है कि अवश्य उसने प्रकृति के नियमों का यथावत् ज्ञान संसार में प्रचारित किया है।*

प्यारे पाठकों जब हम यह मान लेते हैं कि संसार में ईश्वर आज्ञा प्रचलित है तो हमें यह विचार करना आवश्यक हो जाता है

*वह ज्ञान वेद है जो संख्या में 4 हैं- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद ईश्वर ने मनुष्य को उत्पन्न करने के बाद उस समय के सबसे पवित्र आत्मा वाले मनुष्यों अग्नि, आदित्य, वायु, अंगिरा नामक ऋषियों को वेद का ज्ञान दिया। इन चारों ने फिर ब्रह्मा नामक ऋषि को चारों वेद पढ़ाये और ब्रह्मा ने विश्व में वेदों का प्रचार किया।

कि ईश्वर आज्ञा के लक्षण क्या हैं अथवा ईश्वर ने जो हमें वेदों (ईश्वर का आज्ञा) का ज्ञान दिया है वह कैसा है?

पहला लक्षण हम आवश्यकता के अनुसार यह करते हैं कि **'हिताहितसाधनताबोधकत्वंवेदत्व'** अर्थात् जो (**हित**) जीवात्मा के अनुकूल और (**अहित**) जीवात्मा के प्रतिकूल साधनों का (**बोधक**) बतलाने वाला हो उसे वेद कहते हैं। जो यह लक्षण सब ग्रन्थों में अति-व्याप्त होता है अर्थात् सब ग्रन्थ थोड़ी बहुत हित की विधि और अहित का निषेध लिए रहते हैं।

अतः फिर लक्षण इस प्रकार करते हैं कि **हिताहितसाधनबोधकानिचापुरुषवाक्यानि इति वेदाः** अर्थात् जो हित अहित का बोधक अपुरुष वाक्य अर्थात् किसी मनुष्य का नहीं कहा हुआ वाक्य, उसे वेद कहते हैं। अब नास्तिकों के ग्रन्थों और कुरान, बाइबिल, तौरेत, जबूर इन पुस्तकों में भी यह लक्षण होगा क्योंकि जैन लोग अपने तीर्थङ्करों को ईश्वर मानते हैं और मुसलमान लोग कुरान को ईश्वरीय पुस्तक मानते हैं, ईसाई बाइबिल तथा यहूदी तौरेत और जबूर को।

अब वेदों का लक्षण यह होगा **''हिताहितसाधनताबोधकानि चापुरुषवाक्यानि ब्रह्मप्रतिपादकानि सृष्टि कर्माविरूद्धानि इति वेदाः''** अर्थात् जो ज्ञान हित अहित का बोधक एवं मनुष्य का वाक्य न हो, ब्रह्म का प्रतिपादक हो और सृष्टिक्रम* के विरूद्ध न हो उसे वेद कहेंगे। परन्तु वेद शब्द मय है। शब्द को जब तक

---

*सृष्टिक्रम के विरुद्ध का अर्थ है-सृष्टि के नियमों के विपरित कार्य जैसे कोई कहें कि बिना रज-वीर्य किसी जीव का शरीर उत्पन्न हो गया अर्थात् बिना किसी कारण कोई कार्य हो गया। जिसे साधारण भाषा में चमत्कार कहा जाता है।

उसमें यह दोष पायें जावें प्रमाण नहीं माना जाता जैसा महात्मा गौतम जी ने शब्द परीक्षा में लिखा है-

"तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तिदोषेभ्य"। न्याय दर्शन

अर्थ- शब्द अप्रामाण्य है क्योंकि उसमें (**अनृत**) झूठा होना, (**व्याघा**) परस्पर विरूद्ध शब्द कभी सिद्धि दायक नहीं होता, इस कारण उसको प्रमाण नहीं माना जाता। परन्तु चूंकि ईश्वर सर्वज्ञ है वह अनृत (झूठ, असत्य) वचन कभी नहीं कहता। उसका कथन तत्वज्ञान के अनुकूल होता है। इस कारण वेदों में यह दोष नहीं और सर्वज्ञ अपने पूर्व कथन को भूलकर उसके विरूद्ध भी नहीं कहता। इस कारण व्याघात दोष भी वेदों में नहीं और पुनरक्ति भी अज्ञानी कथन में हुआ करती है। वेदों में यह दोष भी नहीं है। वेदों को इन दोषों से रहित गौतम आदि महात्मा ऋषियों ने अपने अपने शास्त्रों में सिद्ध किया है।*

*** इस सबसे सिद्ध होता है कि ईश्वर ने सृष्टि के प्रारम्भ में एक ज्ञान दिया जिसका नाम वेद है अर्थात् देवादिदेव, महादेव, शिवशंकर अर्थात् सभी देवों के देवता, सबसे बड़े देव, कल्याणकारी, सदैव कल्याणकारक ईश्वर ने सबसे बड़ा साक्षात् प्रसाद है। मनुष्य को वेद के रूप मे दिया है। अतः वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना और उसके अनुसार कार्य करते हुए एक ही ईश्वर की पूजा करना मनुष्य का परम धर्म, परम कर्म, परम पूज्य है।**

विश्व शान्ति के आधार

॥ आर्य समाज के नियम ॥

1. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।
2. ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप निराकार सर्वशक्तिमान न्यायकारी दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर अमर, अभय नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करने योग्य है।
3. वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।
4. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।
5. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।
6. संसार का उपकार करना आर्य-समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।
7. सबसे प्रतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिए।
8. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।
9. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में ही अपनी उन्नति समझनी चाहिए।
10. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

© आर्य पुत्र नरेन्द्र डुंगरियाल